ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 25 | अंक 12 | विक्रम संवत् 2077-78 दिसम्बर 2021 | पृष्ठ 34

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
पण्डित अनन्त शर्मा
डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
सोहन लाल गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन

सहयोग
नवीन जोशी
आनन्द शर्मा

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
(जगद्गुरु रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)
कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय		3
2.	राजस्थान की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराएँ	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	4
3.	पृथ्वी एवं सूर्य में पौर्वापर्यविषयक सिद्धान्त (2)	डॉ. रामदेव साहू	7
4	भारतीय चिन्तन में द्वैताद्वैतवाद - एक विश्लेषण	महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वरपुरी	11
5.	कालिदास के काव्यों की छन्दयोजना	वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'	14
6.	पाण्डुलिपि संरक्षण के उपाय	आनन्द शर्मा	19
7.	तत्पुरुषसमासान्तर्गत केषाञ्चित् सूत्राणां तात्पर्यम्	डॉ. रघुवीरप्रसाद शर्मा	21
8.	नाथपंथ का उदय, प्रभाव और अलवर के प्रमुख नाथ संत	डॉ. डी.सी. चौबे	24
9.	राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्	डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर	31

विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

खाता संख्या : 5013053111

IFS Code : KKBK0003541

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2021 का द्वादश अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इस अंक में सर्वप्रथम देवर्षि कलानाथ शास्त्री द्वारा लिखित ''राजस्थान की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ'' सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। तत्पश्चात् डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'पृथ्वी एवं सूर्य में पौर्वापर्यविषयक सिद्धान्त (2)' लेख में पृथ्वी एवं सूर्य के सृष्टिक्रम के विषय में महर्षि अगस्त्य, पौराणिक एवं नव्य मत के सिद्धान्तों द्वारा वेद विज्ञान के रहस्यों को प्रस्तुत किया गया है । महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वरपुरी द्वारा लिखित तृतीय लेख ''भारतीय चिन्तन में द्वैताद्वैतवाद-एक विश्लेषण'' में निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' द्वारा लिखित 'कालिदास के काव्यों की छन्दयोजना' लेख में महाकवि कालिदास के छन्द प्रयोग के वैशिष्ट्य को शास्त्रालोचन की दृष्टि से प्रतिपादित किया है। आनन्द शर्मा द्वारा लिखित 'पाण्डुलिपि संरक्षण के उपाय' लेख में पाण्डुलिपि ग्रन्थागारों में कार्यरत विद्यार्थियों एवं कर्मचारियों के लिये प्रयाप्त उपयोगी है। तत्पश्चात डॉ. रघुवीरप्रसाद शर्मा द्वारा लिखित 'तत्पुरुषसमासान्तर्गत केषाञ्चित् सूत्राणां तात्पर्यम्' लेख व्याकरणशास्त्रीय सूत्र मीमांसा को प्रस्तुत करता है। डॉ. डी.सी. चौबे द्वारा लिखित 'नाथपंथ के उदय, प्रभाव और अलवर के प्रमुख नाथ संत' लेख नाथ पंथ के इतिहास को प्रस्तुत करता है। अन्त में डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत् प्रस्तावना शतकम्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

सम्पादक

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

राजस्थान की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराएँ

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक ''भारती''संस्कृत मासिक
पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
पूर्व अध्यक्ष - राजस्थान संस्कृत अकादमी
आधुनिक संस्कृत पीठ - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व निदेशक - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
सदस्य - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

यद्यपि राजस्थान के भारत का अभिन्न भू-भाग होने के कारण यहाँ भारतीय संस्कृति का प्रत्यक्षदर्शन कण-कण में होता है और पृथक् से किसी राजस्थानी संस्कृति होने का प्रश्न नहीं उठता, तथापि राजस्थान की कुछ विशिष्ट परंपराएँ भी हैं, जिन्होंने जनजीवन पर अपनी छाप छोड़ी है। यहाँ हम उनका विवरण देने का प्रयत्न करेंगे।

राजस्थान का जनजीवन ऐसी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं और आस्थाओं के बहुरंगी ताने-बाने से गुंथा हुआ है, जो इस भू-भाग के अतीत, सांस्कृतिक इतिहास तथा वीरपूजा की भावनाओं से जन्मी हैं तथा समूचे देश की सांस्कृतिक धारा ने जिन्हें एकीकृत और समन्वित रूप भी प्रदान किया है। यही कारण है, कि यहाँ देश की उस सनातन संस्कृति की धारा भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जो वेदकाल से लेकर मध्यकाल तक की धार्मिक और दार्शनिक आस्था से अनुप्राणित है, जिसमें रामायण और महाभारत के पात्रों, कृष्ण, रामलीला, गीता, भागवत, तीर्थयात्राएँ मोक्ष, गयाश्राद्ध, दान-धर्म आदि के प्रति श्रद्धा समान रूप से अनुस्यूत है। दशहरा-दीवाली, होली जैसे त्यौहारों को प्रमुख माना जाता है, साथ ही इस भूमि की विशिष्ट परम्पराएँ भी उस धारा में आकर उसे विशिष्ट रंग प्रदान करती हैं जो गणगौर, तीज आदि के मेलों में, रामदेव, गोगाजी, तेजाजी आदि स्थानीय लोक-देवताओं के प्रति आस्था में और यहाँ के विशिष्ट रीति-रिवाजों में परिलक्षित होती हैं।

हजारों वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास के समन्वित प्रभावों से पनपी इस परम्परा का आकलन सरल नहीं है, किन्तु उसका एक चित्र और परिदृश्य यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यह चित्र विविध प्रभावों से ढली यहाँ की सामाजिक संस्कृति का स्वरूप भी स्पष्ट कर सकेगा।

धर्मः सांस्कृतिक परिदृश्य

भारत की धार्मिक परम्पराएँ वेदकालीन यज्ञ-याग आदि के कर्मकाण्ड, सोलह संस्कार, चार आश्रम, चार वर्ण, चार पुरुषार्थ आदि मान्यताओं के मूल पर आधारित है, किन्तु उन पर परवर्ती पुराणकालीन संस्कृति का भी विपुल प्रभाव है, जिसमें दस अवतारों की मान्यता, रामलीलाए, तीर्थाटन और गंगा-यमुना के प्रति श्रद्धा ने पर्याप्त योगदान दिया है। साथ ही भक्ति आन्दोलन का गहरा असर है, जिसके कारण रामचरित मानस, वैष्णव भक्ति के आचारों, भक्त कवियों और सन्तों के उपदेशों का दूरगामी प्रभाव यहाँ के जीवन पर दिखायी देता है।

मध्यकाल में यहां निर्गुण भक्ति की ज्ञान शाखा के प्रसार आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक सन्त सम्प्रदाय भी पनपेः- जैसे- दादूपंथ, विश्नोई सम्प्रदाय, निरंजनी, लालदासी, रामस्नेही आदि पंथ जो यहां की विशिष्ट देन कहे जा सकते हैं। इनका प्रभाव यहाँ बहुत रहा जैसे परनामी, नानकपंथी, आर्य समाजी, राधास्वामी आदि पंथों की परम्पराएँ तथा वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग, चैतन्य का गौडीय सम्प्रदाय आदि।

यहाँ केवल हिन्दू ही नहीं, मुसलमान, सिख आदि भी बड़ी संख्या में हैं, जो अपनी-अपनी धार्मिक परम्पराओं का मुक्त और अविच्छिन्न रूप से पालन करते हैं। जैन धर्म की परम्परा यहाँ हजारों वर्षों से चली आ रही है, फल-फूल रही है और उसकी धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं को राजस्थान का योगदान इतिहास में विशेष उल्लेख का पात्र बन गया है।

साथ-साथ पनपती रही इन परम्पराओं ने समूचे जनजीवन पर सम्मिलित प्रभाव डाला हो तथा एक दूसरे की परम्पराओं को आदान-प्रदान द्वारा प्रभावित, समृद्ध और समन्वयात्मक रूप से पुष्ट किया हो । यह स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है, किन्तु ऐसा आकलन बहुत विस्तार-सापेक्ष है और यहाँ अप्रासंगिक भी। यहां मोटे रूप में इन विभिन्न धार्मिक परम्पराओं व दार्शनिक धाराओं का संकेत ही पर्याप्त होगा।

सर्वमान्य धार्मिक धारणाएँ

सनातनी परम्परा विविध धार्मिक परम्पराओं और मान्यताओं से रची-बसी एक इन्द्रधनुषी सांस्कृतिक परम्परा है जिसमें वेदों और उपनिषदों का प्रभाव तथा ऐसी दार्शनिक आस्थाएँ गहरी पैठी हुई हैं, जैसे :- पुनर्जन्म को मानना, ईश्वर को चराचर में तथा घट-घट में व्याप्त देखना, उसे कभी राम के रूप में, कभी कृष्ण के रूप में तथा गणेश, शिव,

दुर्गा, हनुमान आदि विविध देवी-देवताओं के रूप में पूजना, ओंकार, तुलसी, गौमाता, गंगा आदि के प्रति श्रद्धा। यही समस्त हिन्दू आस्तिकों की समान सांस्कृतिक परम्परा है, जो देश भर में व्याप्त है। राजस्थान में भी यह परम्परा सामान्य रूप से सर्वत्र फैली देखी जा सकती है। यहाँ का सामान्य अभिवादन राम-राम है, जो गाँवों में आज भी प्रचलित है। प्रत्येक शुभकार्य के पहले गणेश पूजना भी इस परम्परा का अंग है। प्रत्येक मकान के द्वार पर गणेश की मूर्ति स्थापित करना इसी का प्रतीक है।

निम्बार्क-संप्रदाय

वैष्णव संप्रदायों में एक प्रमुख संप्रदाय आचार्य निम्बार्क का है, जिसका प्रमुख पीठ भी आज किशनगढ़ (अजमेर जिला) के पास सलेमाबाद नामक ग्राम में स्थित है। अन्य वैष्णव संप्रदायों की भाँति निम्बार्क संप्रदाय का भी प्रमुख प्रसार वृन्दावन में हुआ (मुगलकाल में) जहाँ हरिव्यास-देवाचार्य जी ने संप्रदाय के पीठों का सुनियोजित पुनर्गठन कर बारह शिष्यों को संप्रदाय के प्रसार का कार्य सौंपा। इनके प्रमुख शिष्य परशुराम-देवाचार्य थे जो जयपुर राज्यान्तर्गत नारनौल के समीप गौड ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे और कुछ समय मथुरा के नारद टीला पर साधना कर निम्बार्क संप्रदाय की प्रमुख गद्दी राजस्थान में ले आये।

पुष्कर में कुछ चमत्कारी पीर लोगों को दिग्भ्रान्त करते थे, अतः उन्हें अपने योगबल से परास्त कर वहाँ इस वैष्णव पीठ की स्थापना इन्होंने आवश्यक समझी, ऐसा माना जाता है। तब से (16वीं सदी के आसपास) अजमेर के सलेमाबाद में यह प्रमुख पीठ स्थित है। परशुरामसागर आदि अनेक भक्तिग्रन्थों में परशुराम देवाचार्य ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में काव्य रचना की और राजस्थान में इस संप्रदाय का प्रसार किया।

वर्तमान में उदयपुर में भी निम्बार्क पीठ है तथा जयपुर आदि नगरों में स्थान.स्थान पर इस संप्रदाय के राधाकृष्ण के मन्दिर हैं। इस संप्रदाय में राधा को कृष्ण की स्वकीया (परिणीता) माना जाता है और युगल स्वरूप की मधुर सेवा की जाती है। समय-समय पर राजस्थान की देशी रियासतों के अनेक राजवंशों ने भी इस संप्रदाय के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की।

जयपुर नरेश जगतसिंह ने संवत् 1856 में सलेमाबाद में जाकर आचार्य श्री का आशीर्वाद प्राप्त किया, जिसके फलस्वरूप राजकुमार जयसिंह का जन्म हुआ, अतः इस राजवंश ने उन्नीसवीं सदी में इस संप्रदाय को बहुत प्रश्रय दिया और अनेक मेले आयोजित किये, इसका उल्लेख इतिहास में मिलता है।

पृथ्वी एवं सूर्य में पौर्वापर्यविषयक सिद्धान्त (२)

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

(गतांक का शेषभाग)

5. महर्षि अगस्त्य का सिद्धान्त

पृथ्वी एवं सूर्य के पौर्वापर्य के विषय में ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल में ही महर्षि अगस्त्य का सिद्धान्त उपलब्ध होता है। वहाँ उन्होंने इस विषय की शंकास्पदता को ही व्यक्त किया है।

जैसेः-

''कौन पदार्थ पहले हुए कौन पदार्थ बाद मे उत्पन्न हुए इसे कैसे जाना जा सकता है। उत्पन्न होने पर क्रान्तद्रष्टा भी कहाँ जान पाते हैं, अतः कौन ज्ञान सकता है। जो भी पदार्थ संज्ञावान् हैं, वे विश्वात्मा से परिपूर्ण है। दिन एवं रात्रि की भाँति चक्रवत् उनका विवर्त्त ही सक्रिय रहता है''

(ऋग्वेद 1/185/1)

उपर्युक्त श्रुति से ज्ञात होता है कि जैसे अहः एवं रात्रि क्रमशः विवर्त्त को प्राप्त करते है, ठीक वैसे ही द्यावापृथिवी के भी विवर्त्त का क्रम है, किन्तु उसमें पौर्वापर्य की कल्पना सम्भव नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार क्रमिक सक्रियता की स्थिति में पृथ्वी एवं सूर्य की उत्पत्ति में भी पौर्वापर्यगत क्या क्रम था, इसे कौन जान सकता है?

इसी श्रुति को आधार मान कर पं. मधुसूदन ओझा ने लिखा हैः-

इस प्रकार महर्षि अगस्त्य ने इन दोनों (पृथ्वी एवं सूर्य) के पौर्वापर्य के विषय में स्पष्ट रूप से दुरूहत्व का ही कथन किया है। इस विषय में सत्य तो अवश्य चिन्तनीय है, किन्तु आज तक इस विषय में कुछ नहीं जाना गया, अतः यथास्थिति ही स्वीकार करनी चाहिए।

6. पौराणिक सिद्धान्त

पुराण वाङ्मय में मूलतः वेद का ही उपबृंहण हुआ है। वहाँ सृष्टि एवं प्रलय का विषय विस्तार से निरूपित किया गया है। वहाँ कहा गया है, कि प्रलयकाल में प्रथमतया पृथ्वी का लय होता है, तब सूर्य बचा रहता है। महा-प्रलय में भी पृथ्वी के लय के अनन्तर ही सूर्य का लय होता है। वैदिक विद्वान् इस सन्दर्भ में लय का कारण अग्निक्षय को बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में अग्नि ही जीवन सिद्ध होता है। यदि पहले उत्पन्न होने वाले का लय (विनाश) पहले माना जाये, तो पृथ्वी का ही पहले होना सिद्ध होता है। इस दृष्टि से कुछ विद्वान् कहते हैं कि पृथिवी का जब आत्यन्तिक अग्निक्षय होता है, तभी पृथ्वी का लय होता है। यह लय स्वरूप का परित्याग मात्र है अथवा विनाश इस विषय में भी पौराणिक विद्वानों में विरोधात्मक स्थिति विद्यमान है।

यही कारण है कि कुछ विद्वान् लय को विनाश नहीं मानते। उनके मतानुसार पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। अथवा जैसा कि दार्शनिक भी प्रतिपादित करते हैं कि पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में तथा आकाश ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार लय का क्रम कहा गया है।

दार्शनिकों ने सूर्य के लय के विषय में कुछ विशिष्ट नहीं कहा है। पौराणिक विद्वानों में से ही कुछ कहते हैं कि नैमित्तिक प्रलय में पृथ्वी का प्रलय होता है तथा प्राकृतिक प्रलय में सूर्य का। इससे यह भी लक्षित होता है कि कल्पादि में जब सृष्टि होती है, तब पहले पृथ्वी ही उत्पन्न होती है । उसके पश्चात् सूर्य उत्पन्न होता है, किन्तु मन्वन्तरीय प्रलय के अनन्तर सूर्य तो पहले ही उपस्थित रहता है। उस समय केवल पृथ्वी की उत्पत्ति के ही देखे जाने से कुछ विद्वान् सूर्य के अनन्तर पृथ्वी आविर्भूत हुई ऐसा कहते हैं।

ग्रहों के लय के विषय में पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैः-

''प्रकाशरश्मियों के पुञ्जीभूत आत्मा वाला यह सूर्य गति की असमानता के कारण तब तक विवर्त्तमान रहता है। तीव्र गति का विच्छेदन करते हुए अपने अन्तिम स्तर पर जब पहुँचता है, तब इस प्रक्रिया से अपने ग्रहस्वरूप को निर्मित कर लेता है। फिर इसी के पश्चात् और फिर उसके भी पश्चात् अनेक प्रकार से अन्य ग्रहों को भी उत्पन्न करके, अपने से उत्पन्न उन अन्य ग्रहों को आज भी अपने ही मार्ग पर गतिशील बने रहने के लिए ग्रहण करता है।

इन ग्रहों का प्रकाश सूर्य की अपेक्षा अल्पाल्प मात्रा में होने के कारण क्रमशः शनैः शनैः ह्रास (विनाश) को प्राप्त करता है। जब आत्यन्तिक अग्निक्षय की स्थिति होती है, तब चन्द्रमा आदि अन्य ग्रह भी अन्ततः विनाश को प्राप्त करते हैं। **(अहोरात्रवाद-5/16-18)**

इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है, कि आत्यन्तिक प्रलय में जब अग्नि महाभूत का लय वायु महाभूत में होता है, उस अवधि में ही सूर्य चन्द्र तारों एवं नक्षत्रो का भी लय हो जाता है। ऐसा मानने पर सूर्य की उत्पत्ति भले ही आनन्तरीया न लक्षित होती हो, किन्तु सूर्य में विद्यमान तत्वों के पिण्डीभाव, आकृतिनिर्माण एवं स्वरूप की उत्पत्ति में तो रज ही एकमात्र कारण है। वह रज पृथ्वी की ही अंशभूत है। अतएव पहले पृथ्वी महाभूत की विद्यमानता लक्षित होती है।

7. नव्य मत

नव्यमत के अनुयायी विद्वान् कहते हैं, कि सर्वप्रथम वैश्वानर अग्नि से सोम एवं सवितृ रश्मियों के सम्पर्क से केतु उत्पन्न होते हैं। ये केतु तारो की भॉति ही होते है। इनका आकार अत्यन्त विस्तृत होता है। इन केतुओं से ही सूर्य की उत्पत्ति होती है। जब अनेक केतु एकत्र होकर विशालकाय पिण्ड का रूप प्राप्त कर लेते हैं, तो वही पिण्ड लोक में सूर्य नाम से कहा जाने लगता है।

इस विषय में कहा गया है:-

''यह सूर्य आकाश में अग्नि के रेतस् (वीर्य) रूपी सोम का भक्षण करते हुए अत्यधिक प्रज्ज्वलित होता है। वह सभी दिशाओं से सोम का आहरण करता है तथा उसके परिणाम में अपनी नाभि (केन्द्र) में ज्वलनशील पिण्ड को धारण करता है।

पहले वह सूर्य प्रज्जवलित केतु के रूप में ही विद्यमान था। धीरे धीरे उसने सम्पूर्ण ज्वाला (प्रकाश) को संग्रहित कर पिण्डात्मता को प्राप्त किया। वही केतु अब सूर्य के रूप में भासित होने लगा। ब्रहाण्ड में विद्यमान सभी सूर्य केतुओं से ही उत्पन्न हुए हैं'' **(अहोरात्रवाद-5/23, 24)**

ये नव्य मतानुयायी विद्वान् ही पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में अपना अभिमत इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं, कि सूर्य में एक निश्चित अवधि के पश्चात् अग्नि के क्षय का क्रम प्रारम्भ होता है। जैसे सजीवों में आयु की सुनिश्चित अवधि के अनन्तर धातुक्षय का प्रारम्भ हो जाता है, उसी प्रकार सूर्य में भी अग्निक्षय की प्रक्रिया का होना सम्भव प्रतीत होता है। इस विषय में उनके कथन का आधार यह है, कि अग्नि भी धीरे धीरे शान्त ही होती है। ऐसा नहीं है, कि वह केवल जलती ही रहती हो। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से सूर्य में अग्निक्षय का क्रम लक्षित होता है। जब सूर्य में आत्यन्तिक अग्निक्षय होता है, तब वह सूर्य ही पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि कहा है-

''क्रमशः यह सूर्य अपने अन्तःस्थ अग्नि का ह्रास करके सम्पूर्ण क्षार को बहिष्कृत करके अपने ही पिण्ड में संकुचित हो जाता है तथा प्रकाश एवं उष्मा प्रदान करना बन्द कर देता है, तो पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाता है'' (अहोरात्रवाद-5/25)

पृथ्वी में अग्नि सोम के अधिकृत होती है। यही अग्नि वाडवाग्नि के रूप में पृथ्वी में विद्यमान जल में अनुभव की जाती है। पृथ्वी से निकली हुई रश्मियों में भी यही अग्नि विद्यमान होती है। वही अग्नि जब ग्रह-नक्षत्रों की रश्मियों द्वारा आकृष्ट की जाती है, तब वैश्वानराग्नि के रूप को प्राप्त करती है।

नव्य मतानुयायी विद्वान् ऐसा भी कहते हैं, कि जब पृथ्वी में विद्यमान सोम अत्यधिक अग्निक्षय को प्राप्त कर लेता है, तब विशुद्ध सोममयी यह पृथ्वी चन्द्रमा के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। कहा है-''जिस स्थिति में इस पृथ्वी से वह सम्पूर्ण सोम अग्नि के क्षय को प्राप्त कर लेता है, तो अग्नि से रहित वह सोम इस पृथ्वी पिण्ड के साथ ही विशुद्ध सोममय चन्द्र के रूप में उद्भूत हो जाता है।'' (अहोरात्रवाद-5/27)

गन्धर्व संज्ञा वाली रश्मियों के पुंजीभूत स्वरूप वाली विशेष प्रकार की उल्कायें चन्द्रमा के चारों ओर परिक्रमण करती हैं। चन्द्रमा में भी गन्धर्व रश्मियाँ रहती हैं। चन्द्रमा का परिक्रमण करने वाले उल्कायें वैश्वानर अग्नि को ग्रहण करती हैं, अतः उन उल्काओं के ताप से चन्द्रमा में विद्यमान सोम भी प्रलय के समय पृथ्वी एवं सूर्य में विद्यमान अग्नि की भाँति क्षय को प्राप्त कर लेता है। अपने घनीभाव को त्याग कर तरलत्व एवं विरलत्व को प्राप्त कर वायु में ही समाहित हो जाता है। जैसा कि वहीं अहोरात्रवाद में पं. मधुसूदन ओझा महोदय ने नव्य मत प्रतिपादन के प्रसंग में कहा है-

''पहले यह पृथ्वी सूर्य ही थी, और सूर्य भी (अपना स्वरूप ग्रहण करने से पहले) कभी केतु था। जो पहले केतु होते हैं, वे ही समय आने पर बाद में सूर्य के रूप में परिणत हो जाते हैं। केतु अचानक स्वयं उत्पन्न हो कर कालक्रमानुसार सूर्य की एवं तदनन्तर पृथ्वी की तथा तदनन्तर चन्द्रमा की सृष्टि करते हैं। चन्द्रमा क्रमशः अग्निरहित हो जाने पर क्षीण होता हुआ अदृश्य हो जाता है तथा अन्तरिक्ष में ही विलीन हो जाता है''। (अहोरात्रवाद-5/30,31)

इस प्रकार नव्य मत में केतु से सूर्य, सूर्य से पृथ्वी तथा पृथ्वी से चन्द्रमा ऐसा उत्पत्तिक्रम प्रतिपादित किया गया है। यहाँ भी जो शंका होती है, वह वैश्वानर अग्नि के विषय में ही होती है, क्योंकि द्यौ में विद्यमान वैश्वानर अग्नि भी पृथ्वीमहाभूत की उत्पत्ति से पूर्वकाल की नही है। ऐसा हो सकता है, कि यह त्रैलोक्य पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न हुआ हो, क्योंकि यह त्रैलोक्य भूमण्डल के अन्तर्गत ही है। दृश्यमान पृथिवी बाद में उत्पन्न हुई हो सकती है।

भारतीय चिन्तन में द्वैताद्वैतवाद - एक विश्लेषण

महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी
उपाध्यक्ष - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
जयपुर

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का मूल आधार वेद है। दार्शनिकों की भी प्राय: यह मान्यता रही है, कि वेदों को प्रमाण मानना तत्त्वदर्शी चिन्तक ऋषि-महर्षियों की अपरोक्षानुभूति को ही प्रमाण मानना है। इस अपरोक्षानुभूति का मूल अध्यात्म है। अध्यात्म में आत्मचैतन्य को आधार माना गया है, अत: समग्र चिन्तन में आत्मचैतन्य ही केन्द्रीभूत तत्त्व है। इस पर उपनिषदों में जो व्यापक चिन्तन किया गया, वह वेदान्त के नाम से कालान्तर में जाना गया। वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय हैं:- जैसे शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद इत्यादि।

आज हमारे चिन्तन का विषय है निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद। इस सम्प्रदाय के चिन्तन की मूलभित्ति द्वैत एवं अद्वैत दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करना है। तात्पर्य यह है कि यदि हम अद्वैत का ही स्वीकार करें तो द्वैतभान की व्यावहारिक अनुभूति होने पर उसे कैसे नकार सकते हैं। दूसरा द्वैतभान की स्थिति में भी मूलत: एक का अनुभव होना अद्वैत के अस्तित्व का निश्चय कराता है। द्वैत एवं अद्वैत ये दोनों स्थितियाँ श्रुतिसम्मत हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में 'नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्' में सत् एवं असत् से भिन्न सत्ता का प्रतिपादन मूलत: अद्वैत को ही लक्षित करता है। यह जो द्वैतरहित सत्ता इंगित की गयी है, उसे ही उपनिषदों में ब्रह्म संज्ञा से कहा गया है। वहाँ ब्रह्म को सच्चिदानन्द भी कहा है। अर्थात् सत् चित् एवं आनन्द ये ब्रह्म के तीन अंश हैं। निम्बार्कमतानुसार आनन्दांश आत्मा है, चिदंश ज्ञान है तथा सदंश जीव है। आनन्दांश रूप आत्मा के साक्षात्कार के लिए सदंशरूपी जीव चिदंशरूप ज्ञान की अपेक्षा रखता है, अत: जीव ज्ञान एवं आत्मा में ब्रह्म ही क्रियान्वित हो रहा है।

द्वैत की स्थिति असत् की मान्यता पर आधारित है। सत् से भिन्न जो भी है, वह असत् है, अत: जीव से भिन्न

जड़ द्रव्य को असत् माना गया, किन्तु यह चिन्तन परवर्त्ती दार्शनिक चिन्तकों का है। प्राचीन दार्शनिकों ने श्रुत्याधारित द्वैतवाद को उपनिषदों में भी स्पष्ट रूप से देखा है। उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों की प्रतिपत्ति उपलब्ध होती है–प्रथमतया परब्रह्म की, दूसरे अपर ब्रह्म की। यहाँ एक ही ब्रह्म में स्वरूपभेद से द्वैत को उपस्थापित किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है, कि भेदत्व से द्वैत लक्षित होता है या द्वैत के कारण भेदलक्षित होता है। इस प्रश्न के निराकरण के रूप में निम्बार्कमत में अपर ब्रह्म को जगत्रूप में ही स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म एवं जगत् में जो भेद की प्रतीति हो रही है, वही यथार्थ रूप में द्वैत है, किन्तु ब्रह्म स्वयं ही जगद्रूप में परिणत हो जाता है, अत: जगत् ब्रह्मभिन्न है। ब्रह्म कारण हैं एवं जगत् कार्य है, अत: जैसे कारण से कार्य निष्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म से जगत् निष्पन्न होता है तथा जैसे कार्य अपने कारण में उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् भी अपनी उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान होता है। इस प्रकार जब वह कारण ब्रह्म कार्य जगत् में परिणत हो जाता है, तो वह भेद में अभेद सम्बन्ध से ही रहता है। जैसे वृक्ष का कारण बीज है और वह बीज उस वृक्ष में अभेद सम्बन्ध से विद्यमान होता है, वैसे ही ब्रह्मकारणरूप बीज भी जगत् कार्यरूपी वृक्ष में ही विद्यमान होता है। तदतिरिक्त उसकी सत्ता को ढूँढना निरी मूर्खता होगी।

वस्तुत: द्वैत और अद्वैत दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। उनमें से किसी एक को सही और एक को गलत नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थितियों में ब्रह्मनित्यतावाद भी निराकृत नहीं होता, क्योंकि जैसे कार्य अपने कारण में उत्पत्ति से पूर्व एवं उत्पत्ति के बाद भी नित्य शाश्वत बना रहता है, वैसे ही जगत् भी नित्य एवं शाश्वत ही है। उसके उत्पत्ति एवं विनाश कार्य के उत्पत्ति–विनाश के तुल्य प्रतीति का विषय तो हो सकते हैं किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है, कि वह नित्य नहीं है, क्योंकि नित्य नहीं होता तो जगत् पुन: उत्पन्न नहीं होता। कारण में पूर्वतो विद्यमान कार्य ही उत्पत्ति के रूप में भासित होता है। यह अद्वैत को ही सिद्ध करता है, किन्तु अद्वैत की स्थिति प्राणियों के आभास का विषय न होने से अपरिज्ञात रहती है, किन्तु वह न केवल अनुमान से, अपितु आप्त प्रमाण से सिद्ध होने के कारण निराकृत नहीं की जा सकती। अत: अकेले द्वैत की स्थिति को स्वीकार करना तथा अद्वैत को स्वीकार न करना अथवा अकेले अद्वैत की स्थिति को स्वीकार करना तथा द्वैत की स्थिति को स्वीकार न करना दोनों ही औचित्यहीन प्रतीत होते हैं।

श्रुतिसम्मत विज्ञान में ब्रह्म एवं जगत् को प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध से भिन्न कहा गया है तथा वहाँ भी स्वरूपाभिन्नत्व को स्वीकार किया गया है। इस विषय में पं. मधुसूदन ओझा लिखते हैं–

सूर्यस्य तोयप्रतिबिम्बवत्कचित्
तदीश्वरस्यप्रतिबिम्बसृष्टयः।
जीवाहितेऽल्पधियस्तमोऽधिका-
वरुद्धसंज्ञं तु जगत् क्षरे इमे।।

इससे भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म एवं जगत् में वस्तुतः अभेद होने पर भी क्षरत्व के कारण जगत् अक्षर ब्रह्म से भिन्न भासित होता है, अतः स्वरूपभेद की स्थिति भले ही वहाँ नहीं मानी गयी हो, किन्तु आधाराधेय के अन्तर से भेद को स्वीकार किया गया है, अतः अद्वैतवादी भी मूलतः द्वैत का निराकरण नहीं कर पाये हैं। निम्बार्क मत में इसके विपरीत यह सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया गया है, कि जगत् विविध परिवर्तनों एवं विकारों से ओतप्रोत होता है, किन्तु ब्रह्म इन परिवर्तनों अथवा विकारों से प्रभावित न होते हुए इस जगत् में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से ब्रह्म जगत् में तादात्म्य की कल्पना तो नहीं जा सकती, किन्तु इस आधार पर भी उसके अभेदत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता।

जीव की संस्थिति से भी द्वैत एवं अद्वैत पूर्णतया भासित होता है। ब्रह्म की भाँति ही जीव भी अजन्मा, अनादि एवं अमर है ऐसा निम्बार्कमत में स्वीकार किया गया है। जन्मने मरने वाला तो शरीर है। उसके संयोग से जीव को जन्मापन्न मान लिया जाता है तथा उसके वियोग से ही मृत मान लिया जाता है। जीव में जो ईश्वरांश है, वह आत्मा से सम्पृक्त होकर ही शरीर में रहता है। जीव एवं आत्मा का द्वैत भी केवल कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के निमित्त ही अवस्थित है, जिससे ब्रह्म न कर्तृत्व का अधिकारी होता है, न भोक्तृत्व का। जीव सदंश होने से अहंभावान्वित हो जाता है तथा कर्त्ता बन जाता है और इसी कारण वही कर्मफल का भोक्ता भी बनता है। ब्रह्म से इस रूप में जीव की भिन्नता है, किन्तु अहंरहित स्थिति में ब्रह्म से उसका अद्वैत भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मा भले ही जीवसम्पृक्त हो, किन्तु वह कर्त्तापन एवं भोक्तापन से रहित होता है। फिर भी आत्मा का द्वैत अवस्थाओं में भासित होता है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं का उपभोक्ता जीवसम्पृक्त आत्मा है, अतः वह ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। यह आत्मा एवं ब्रह्म का द्वैत है। जब आत्मा जीव से असंपृक्त हो जाता है, तब इन अवस्थाओं का भी भोक्ता नहीं रह जाता। उक्त स्थिति में उसका ब्रह्म से अद्वैत हो जाता है। इस प्रकार निम्बार्कमत में द्वैताद्वैत सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित कर आचार्य श्री ने भारतीय अध्यात्मचिन्तन को नवीन दिशा प्रदान की, जिसके प्रति आज भी दार्शनिक चिन्तक एवं श्रुति स्मृति के विद्वान् नतमस्तक हैं।

कालिदास के काव्यों की छन्दयोजना

वैद्य गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
अध्यक्ष – राजस्थान आयुर्वेद विज्ञान परिषद्
साहित्य सरोवर संस्था

वैदिक साहित्य का छन्द चतुर्थ अङ्ग है। इससे पहले शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त आते हैं। सभी वेद प्राय: छन्दोबद्ध हैं। केवल यजुर्वेद में छन्दों के अतिरिक्त गद्य भी हैं। वेद के ब्राह्मण और आरण्यक खण्ड में वैदिक छन्दों की कथायें आयी हैं। वैदिक छन्द सात कहे गये हैं – गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। उत्तररामचरित में लिखा है कि सर्वप्रथम कवि वाल्मीकि के मुख से लौकिक अनुष्टुप् छन्द की रचना हुई। इससे यह ज्ञात होता है कि अनुष्टुप् छन्द वैदिक भी हैं और लौकिक भी। लौकिक छन्द अनन्त हैं। कात्यायन प्रणीत सर्वानुक्रमणिका के बाद छन्द: शास्त्र के सबसे प्राचीन महर्षि पिङ्गल हैं। इन्होंने लाखों छन्दों का उल्लेख किया है, किन्तु संस्कृत साहित्य में इनमें से लगभग ५० प्रकार के छन्दों का ही व्यवहार होता है। महर्षि पिङ्गल को शेषावतार कहा गया है।

ये छन्द वर्णिक और मात्रिक भेद से दो प्रकार के हैं। वर्णिक में निर्दिष्ट छन्दों के अनुसार वर्ण रखे जाते हैं जबकि मात्रिक में मात्रायें गिनी जाती हैं। इनमें वर्णिक को वृत्त तथा मात्रिक को जाति भी कहा जाता है। ह्रस्व अक्षर को लघु तथा दीर्घ अक्षर को गुरु कहा जाता है। संयुक्त अक्षर के पूर्व का अक्षर गुरु होता है। लघु का संकेत '।' तथा गुरु का संकेत 'ऽ' होता है। कुल गण आठ होते हैं। इन गणों के ज्ञान के लिये एक सूत्र है – 'य मा ता रा ज भा न स ल ग म्' इनके अनुसार ही गणों के नाम हैं। यथा य मा ता (पगण) इसी प्रकार मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण होते हैं। 'ल' लघु का द्योतक है तथा 'गम्' गुरु का द्योतक है। संस्कृत भाषा में अधिकतर वर्णिक छन्दों का प्रयोग होता है। इनमें वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी आदि वर्णिक छन्द हैं। हिन्दी भाषा में प्राय: मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया जाता है–दोहा, रोला आदि मात्रिक छन्द हैं। इन सभी प्रकार के छन्दों की परिसीमायें निश्चित की गयी हैं। उनके अनुसार ही छन्दों की रचना की जाती है। इसके विपरीत रचना

का निषेध है। कहा गया है – 'छन्दोभङ्गं न कारयेत्'।

प्रियप्रवास (अयोध्यासिंह उपाध्याय) हिन्दी का काव्य होते हुये भी इसमें संस्कृत के द्रुतविलम्बित, स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार साहित्यवैभवम् (मञ्जुनाथ विरचित) में हिन्दी छन्द घनाक्षरी, सवैया आदि का प्रयोग किया गया है। अत: इन वर्णिक–मात्रिक छन्दों के उपयोग करने में कवि स्वतंत्र है। इसी प्रकार कई कवियों ने एक ही छन्द में विविध भाषाओं का प्रयोग कर चित्रकाव्य के उहाहरण भी प्रस्तुत किये हैं–

यस्मिन्देशे निर्गुणे निर्विवेके,

न क्वापि स्याद् वेदशास्त्रस्य चर्चा।

प्राज्ञ: प्रज्ञाहीनवत् तत्र तिष्ठेत्

'कीजै' काणे देश में आँख काणी।।

जयपुर के श्री कृष्णराम भट्ट तथा श्री मथुरानाथ शास्त्री ने छन्दों में ऐसे प्रयोग खूब किये हैं।

वृत्तरत्नाकर के अनुसार पवर्ग ह ट ठ आदि कई वर्ण अशुभ माने गये हैं, जिन्हें काव्य के प्रारम्भ में छन्द के रूप में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। ये अक्षर भी यदि देवस्तुति या मंगलवाचक हों, तो कोई दोष नहीं है। छन्दों में व्यवहृत यगण, मगण, भगण और नगण शुभ माने गये हैं तथा शेष अन्य अशुभ। सभी स्वर तथा क ग घ च छ ज द ध न य श स ये व्यंजन शुभ वर्ण हैं। रचना की पंक्तियों में एक निश्चित लय तथा यति–गति और ओज–माधुर्य–प्रसाद गुण प्रकट करने हेतु इन सभी बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है।

इसी प्रकार वर्णनीय विषय के अनुकूल छन्दों का प्रयोग भी उपयुक्त होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट लिखा है–

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।

कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगविभागवित्।।

महाकवि कालिदास ने यथासम्भव भावानुसार छन्दों की योजना की है–

१. वंशवर्णन, नायक-नायिका सौन्दर्य, तपस्या आदि में प्राय: उपजाति छन्द का प्रयोग किया है।

२. उपदेश देने एवं कथावर्णन में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है।

३. युद्ध-वीरता आदि में वंशस्थ छन्द का प्रयोग किया है।

४. समृद्धिवर्णन में द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग किया गया है।

५. कामक्रीड़ा, आखेट या अन्य खेदजनक वर्णनों में रथोद्धता छन्द को उपयोग में लिया गया है।

६. करुणप्रसंग में वैतालीय (वियोगिनी) नामक छन्दों का प्रयोग किया गया है।

७. प्रवास, विपत्ति, वर्षा के प्रसंग में मन्दाक्रान्ता छन्द को अपनाया गया है। वर्षाकाल में मार्ग पंकिल हो जाने से जैसे प्रवासी पथिक की गति मन्द हो जाती है, उसी प्रकार मन्दाक्रान्ता छन्द की रचना यतिनियम से मन्द होती है-'प्रावृट् प्रवास व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते'। कालिदास ने इस मन्दाक्रान्ता छन्द की मधुरता, मन्दता को ध्यान में रख कर ही सम्पूर्ण मेघदूत में इसी छन्द की योजना कर अपने उत्कृष्ट वाग्वैभव का परिचय दिया है।

८. सम्पत्ति एवं सफलता में मालिनी छन्द का प्रयोग किया गया है।

९. हर्षातिरेक, हर्षपूर्वक सर्गान्त में प्रहर्षिणी छन्द का प्रयोग कियाग गया है।

१०. नायक का अभ्युदय एवं सौभाग्यवर्धन के प्रसंगों, में प्राय: हरिणी छन्द अपनाया गया है।

११. ऋतुवर्णन, ऋतु की सफलता आदि के अवसर पर वसन्ततिलका नामक छन्द का वर्णन किया गया है।

मेघदूत में मन्दाक्रान्ता के अतिरिक्त अन्य काव्यग्रन्थों में वर्णनानुकूल भिन्न भिन्न छन्दों की योजना है। ऋतुसंहार में वसन्ततिलका, उपजाति और मालिनी का प्रयोग हुआ है। कुमारसंभव में उनके साथ अनुष्टुप्, वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, शार्दूलविक्रीडित, रथोद्धता, हरिणी आदि की भी योजना है। रघुवंश में तोटक, वैतालिक, द्रुतविलम्बित, नाराच आदि छन्दों का भी विनियोग हुआ है। वस्तुत: कालिदास एक महाकवि थे, जिनके काव्यों में छन्द, अलंकार आदि उनकी भावधारा के अंग बन कर स्वयमेव आ जाते थे।

अब इन प्रयुक्त छन्दों के संक्षिप्त लक्षण जिज्ञासुओं के हेतु यहाँ दिये जा रहे हैं-

१. अनुष्टुप्

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।

द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण का पाँचवा अक्षर लघु तथा छठा अक्षर गुरु होता है तथा प्रथम एवं तृतीय चरण का सातवाँ अक्षर गुरु होता है और द्वितीय–चतुर्थ चरण का सातवाँ अक्षर लघु होता है, उसे अनुष्टुप् छन्द कहते हैं।

२. मन्दाक्रान्ता

'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौ गयुग्मम्'। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक मगण, एक भगण, एक नगण, दो तगण तथा दो गुरु होते हैं, वह छन्द मन्दाक्रान्ता है। इसके चौथे, छठे एवं सातवें अक्षरों पर यति होती है।

३. उपजाति

जिस छन्द में इन्द्रवज्रा छन्द के तीन चरण तथा उपेन्द्रवज्रा का एक चरण अथवा उपेन्द्रवज्रा के तीन चरण तथा इन्द्रवज्रा का एक चरण हो, वह उपजाति छन्द कहलाता है। इन्द्रवज्रा – 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः' जिस छन्द के प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण तथा दो गुरु हों, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं। उपेन्द्रवज्रा – 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'– के अनुसार प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु हों, वह उपेन्द्रवज्रा छन्द होता है। उपेन्द्रवज्रा का प्रथम अक्षर लघु होता है और इन्द्रवज्रा का प्रथम अक्षर गुरु होता है, यही इनमें भेद है। शेष दोनों में समानता है।

४. वसन्ततिलका

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक तगण, एक भगण, दो जगण तथा अन्त में दो गुरु हों, वह वसन्ततिलका छन्द है।

५. मालिनी

'न न म य य यु ते यं मालिनी भोगिलोकैः'। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण हो, वह छन्द मालिनी छन्द कहलाता है।

६. प्रहर्षिणी –

'म्नौ ज्रौ गः, त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक मगण, एक नगण, एक जगण, एक रगण और अन्त में एक गुरु हो, वह प्रहर्षिणी है। इसमें तीन और दसवें अक्षर पर विराम होता है।

७. द्रुतविलम्बित

'द्रुतविलम्बितमाह न भौ भरौ'। जिस छन्द में प्रत्येक चरण में एक नगण, दो भगण और एक रगण हो, वह द्रुतविलम्बित है।

८. वंशस्थ –

'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ'। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण, फिर एक जगण और एक रगण हो वह वंशस्थ छन्द है।

९. रथोद्धता –

'रात्पैरैर्नरलगैः रथोद्धता'। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक रगण, एक नगण, एक रगण और अन्त में एक लघु एक गुरु होता है, वह रथोद्धता है।

१०. हरिणी –

'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौश्लौ गोयदा हरिणी तदा'। जिस छन्द के प्रत्येक चरण में एक नगण, एक सगण, एक मगण, एक रगण, एक सगण, एक लघु तथा गुरु हो, वह हरिणी छन्द है। इसमें क्रमशः ६, ४, ७ अक्षरों पर विराम होता है।

११. वैतालीय –

इस छन्द में प्रथम तथा तृतीय चरण में १०-१० अक्षर और क्रमशः दो सगण, एक जगण, एक गुरु तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में ११-११ अक्षर क्रमशः सगण, भगण, रगण, लघु, गुरु होते हैं, वह वैतालीय (वियोगिनी) छन्द है।

पाण्डुलिपि संरक्षण के उपाय

आनन्द शर्मा
पाण्डुलिपि विशेषज्ञ
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

संरक्षण का प्राथमिक लक्ष्य पुस्तक के जीवनकाल को संरक्षित करने के साथ साथ सभी परिवर्धन को ध्यान में रखते हुए उसकी अखण्डता को बनाये रखना है। पुस्तकों (पाण्डुलिपियों) और कागज के संरक्षण में बुक बाइन्डिंग, बहालि, पेपर रसायन विज्ञान और संरक्षण अभिलेख तकनीकों सहित अन्य सामग्री प्रौद्योगिकियों की तकनीकों शामिल है।

पिअर वाटर्स आधुनिक पुस्तक संरक्षण का जनक माना जाता है। उन्होंने पुस्तक और कागज की नयी तकनीकी को 1966 में विकसित किया।

पुस्तक और कागज-संरक्षण को रोकने के लिए कुछ मामलों में हेन्डलिंग, अर्न्तर्निहित उपकरणों और पर्यावरण के कारण रिवर्स क्षति तलाश करता है। पर्यवेक्षक पुस्तकों व दस्तावेजों के लिए भण्डारण के उचित तरीकों का निर्धारण करते हैं, जिनमें आगे की क्षति को रोकने और दीर्घकालीन भण्डारण को बढ़ावा देने के लिए उन्हें बक्से और ठण्डे बस्ते में डालते हैं।

सक्रिय रूप से चुने गये तरीके और तकनीको से संरक्षण दोनों ही नुकसान को रोक सकते हैं। पाण्डुलिपि या दस्तावेज तथा पुस्तक के मूल्य के आधार पर बैन्चों या स्कल आइटम उपकरणों में अधिक नुकसान को रोक सकते हैं यद्यपि पाण्डुलिपि-संरक्षण के लिए कोई नियम निर्धारित नहीं है, लेकिन नैतिकता का अलिखित सुझाव आधुनिक संरक्षण को नियन्त्रित करता है। इस दृष्टि से हम संरक्षण हेतु उपचार और परिवर्तन का चयन करना चाहते हैं, जो प्रतिवर्ती हैं और कलाकृतियों के सौन्दर्य और ऐतिहासिक अखण्डता को बनाये रखते हैं। लागू किये गये उपचारों का विस्तृत और उचित प्रलेखन पाण्डुलिपि व कागजसंरक्षण का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

खराब हेन्डलिंग पाण्डुलिपियों के बिगड़ने का प्राथमिक कारण है। हालांकि एक खराब माहौल पाण्डुलिपियों के बिगड़ने का कारण हो सकता है। कन्जरवेटरों को और एजेन्टों को ज्ञात होना चाहिए कि कतिपय ऐसे कार्य वस्तुओं को संरक्षित करने के लिए क्षति का कारण बनते हैं, जैसेः- गिरावट, उतराव, चढ़ाव वाली आर्द्रता, धूल और

प्रदूषण, आग, पानी, गैस गर्मी कीट आदि अन्य वर्मिन कागज पाण्डुलिपयाँ अन्तर्निहित उपकरणों के अधीन सामग्रियों के प्रमुख उदाहरण हैं। प्रारम्भिक पत्र पलाश, फाइबर, सण, गांजा और कपास से हस्त निर्मित थे, जो टिकाऊ होते थे तथा सदियों तक रह सकते थे। पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त कुछ स्याही पत्रों के लिए हानिकारक होती है जैसेः- लोहे की गैल स्याही। 9वीं शताब्दी के अन्त से आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है, लोहे के मिश्रण के कारण इसमें एसिड होता है और नम स्थितियों में कागज को गला सकता है। कीड़े, वर्मिन, स्वाभाविक ओर से पत्र की ओर आकर्षित होते हैं, क्योंकि कागज (पत्र) सेल्यूलोज स्टार्च प्रोटीन से बना होता है, जो कीड़े वर्मिन को पोषण के स्रोत प्रदान करता है।

संरक्षण के चार चरणों में सफाई स्थितिकरण, मरम्मत, दुरुस्तीकरण आदि शामिल हैं। पुस्तकों और दस्तावेजों को विभिन्न प्रकार की सफाई के अधीन संरक्षित किया जा सकता है पाण्डुलिपि संरक्षण के पत्रों को चमड़े के नर्म ब्रश एक विशेष वैक्यूम क्लीनर्स नॉन केमिकल बल्केनाइज्ड, रबर स्पॉन्ज या विनाईरस जैसी फिनाइल से धूल साफ कर सकते हैं। कीड़ों को हटाने के लिए स्केलपैल या विशेष वैक्यूम क्लीनर का उपयोग करते हैं।

डिजिटल सूचना या संरक्षण व्यापकरूप से निरन्तरता के लिए अपेक्षित है। मीडिया के संरक्षण से ध्यान तेजी से सम्भालने के लिए प्रयास समय और धन का यह निरन्तर इनपुट तकनीकी और संगठनात्मक प्रगति माना जाता है डिजिटल जानकारी के संरक्षण के लिए मुख्य बाधा वास्तव में जबकि हम अभी भी अपनी लिखित विरासत को पढ़ने में सक्षम हैं, कई हजार साल पहले से डिजिटल जानकारी महज एक दशक पहले संभव हुई। जैविक पुस्तकालय के संरक्षण को सुगम बनाने के लिए आवश्यक सामग्री की निगरानी बनाने हेतु प्रयास की आवश्यकता है। विशेष संग्रह प्रमुख पर्यावरणीय कारक है। तापमान, आपेक्षिक आर्द्रता, सूरज की रोशनी, प्रदूषक परिवेश आदि से सुरक्षा की महती आवश्यकता है।

डिजिटल और पारम्परिक संरक्षित पाण्डुलिपियों की देखभाल के लिए रामपुर रजा में बहाली पुस्तकालय रामपुर जुबेर महमूद पेशेवर सहायक डॉ जाकिर संरक्षित पाण्डुलिपियों को लोहे की अलमारी में रखा गया, विशेषरूप से डिजायन निर्मित किये गये थे। पाण्डुलिपि की सुरक्षा के लिए मोरपंख, सांप की केंचुली, नीम के सूखे पत्ते पाण्डुलिपियों में रखते थे। लौंग का तेल कपूर नियमित सफाई बार बार हवा देना और सुखाना तथा पाण्डुलिपियों को कपड़े में लपेट कर धूल कीड़ों से बचाना और वायुमण्डलीय आर्द्रता से सुरक्षा करने हेतु बन्द लोहे की अलमारी में सुरक्षा प्रदान करना उचित है। इस प्रकार पाण्डुलिपियों को क्षतिग्रस्त होने से बचाया जा सकता है।

तत्पुरुषसमासान्तर्गत केषाञ्चित् सूत्राणां तात्पर्यम्

डॉ. रघुवीरप्रसाद शर्मा
प्राध्यापक
संस्कृत शिक्षा विभाग, राजस्थान सरकार

तृजकाभ्यां कर्तरि २/२/१५ -

इदं सूत्रं 'षष्ठी' इति सूत्रस्य-अपवादभूतं वर्तते। षष्ठी इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तं सुबन्तेन समस्यते, स तत्पुरुषो भवति। 'राजपुरुषः' इत्यस्मिन् उदाहरणे 'षष्ठी' इति सूत्रेण षष्ठीतत्पुरुषसमासो भवति। राजन् अस् पुरुष स् इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये समासे सति सुब्लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिं प्रतययलक्षणेनाश्रित्य नलोपः। न च लुका लुप्तत्वान्न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम्, पदत्वस्य सुब्घटितसमुदायधर्मत्वेन तस्य अङ्गकार्यत्वाभावात्।

'षष्ठी' इत्यस्मिन् सूत्रे 'प्राक्कडारात् समासः' इत्यतः समासः इति पदम्, 'सह सुपा' इत्यतः सह सुपा 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' इत्यतः सुप् इति अनुवर्तन्ते। तत्पुरुषः, विभाषा इति सूत्रयोः सम्पूर्णावृत्तिर्भवति। सूत्रे षष्ठी इति पदं तदन्तबोधको वर्तते। तेन 'षष्ठ्यन्तं सुबन्तं', समर्थसुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते इति सूत्रार्थो भवति।

'तृजकाभ्यां कर्तृरि' इति सूत्रं 'षष्ठी' सूत्रस्यापवादकः 'कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः' इति सूत्रवृत्तिरस्ति। सूत्रेऽस्मिन् पूर्व सूत्रात् 'कर्मणि च' इत्यतः, 'कर्मणि' इति अनुवर्तते 'न निर्धारणे' इति सूत्रात् 'न' इति पदस्य तथा 'षष्ठी' इति सूत्रात् 'षष्ठी' इति पदस्यानुवृत्तिः भवति। तेन सूत्रार्थो भवति, कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः।

कर्तरीति तृजकयोः एव विशेषणम् श्रुतत्वात् नतु षष्ठ्याः। ण्वुल्तृचौ इति कर्तरि तृच्। कर्तृमकर्मणोः कृति इति कर्मणि षष्ठी। सूत्रे कतृरि पदं तृच्-अक प्रत्ययोः विशेषणं वर्तते षष्ठ्याः नास्ति। यतो हि सूत्रे एतयोः प्रत्ययोः श्रवणं कृतम्। षष्ठीति पदं तु अनुवृत्तमेवास्ति। अतः सूत्राशयो अस्ति कर्ता कारकस्य अर्थे तृच्-अक प्रत्ययान्तसुबन्तेन सह कर्मणि विहितषष्ठ्याः समासो न भवति।

'अपां स्त्रष्टा' इत्यस्मिन् उदाहरणे सृज् धातो तृच्प्रत्ययत्वात् स्त्रष्टा इति रूपं सिद्धमस्ति अतः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति सूत्रेण 'षष्ठी' इति सूत्रात् प्राप्तस्य समासस्य बाधो भवति।

'वज्रस्य भर्ता' इत्यस्मिन्नपि उदाहरणे भृ धातो तृच् प्रत्ययत्वात् भर्ता इति सिद्धमस्ति। अतः अत्रापि 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति सूत्रेण 'षष्ठी' इत्यनेन प्राप्तं समासं बाध्यते।

नित्यं क्रीडाजीविकयोः २/२/१७-

'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति सूत्रस्यापवादभूतमस्ति। इदं सूत्रं विधि सूत्रम् अस्ति। अनेन सूत्रेण नित्यं षष्ठी समस्यते। पूर्वसूत्रेभ्यः सूत्रेऽस्मिन् अक-षष्ठी-तत्पुरुष-सुप्-सहसुपा-समास इत्यादि पदानाम् अनुवृत्तिः आगच्छति। तेन सूत्रार्थो भवति-क्रीडाजीविकयोः अर्थयोरकेन नित्यं षष्ठी समस्यते।

'उद्दालकपुष्पभञ्जिका' इत्यस्मिन् उदाहरणे उद्दालकः श्लेष्मातकः तस्य पुष्पाणि, तेषां भञ्जनम् इत्यस्वपदविग्रहः। 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारे 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्' इति भावे ण्वुलित्येव युक्तम्। संज्ञायाम् इति तु अधिकारणार्थमिति कृदन्ते वक्ष्यते। तथा सति उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायाम् इति विग्रहः।

अत्र 'षष्ठी' इति सूत्रेण समासः प्राप्तः किन्तु 'विभाषा' इति सूत्रस्याधिकारत्वात् प्राप्तः समासः वैकल्पिकः। अतः 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इति सूत्रेण क्रीडार्थे नित्यसमासस्य विधानं भवति।

जीविकायां दन्तलेखकः इत्यस्मिन् उदाहरणे दन्तानां लेखनेन जीवति इत्यस्वपदविग्रहः। लिखेः कर्तरि ण्वुल्, अकादेशे च 'जीविका' शब्दः निष्पन्नः। अतः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति सूत्रेण अत्र समासस्य निषेधापत्तिः। किन्तु नित्यं क्रीडाजीविकयोः इति सूत्रेण निषेधस्य बाधो भूत्वा अपवादरूपेण नित्य समासो भवति।

पूर्वपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २/२/१-

इदं सूत्रं 'षष्ठी' इति सूत्रस्य अपवादभूतमस्ति। अस्मिन् सूत्रे तत्पुरुषः इति सूत्रात् तत्पुरुष इति पदमनुवर्तते। सह सुपा इति सुप्, 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' इत्यतः सुप् विभाषा इति सूत्रतः विभाषा इति पदस्य अनुवृत्तिर्भवति। तेन सूत्रार्थो भवति-अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्व सङ्ख्याविशिष्टः चेदवयवी।

'पूर्वापराधरोत्तमम्' इति समहारद्वन्द्वात् प्रथमैकवचनम्। एकदेशशब्दः अवयवे रूढः। एकदेशः अस्यास्ति इत्येकदेशी अवयवी, तेनेति लभ्यते। अधिकरणं द्रव्यम्। एकमधिकरणम् एकाधिकरणम्। एकत्वविशिष्टद्रव्ये वर्तमानेन अवयविवाचकसुबन्तेन पूर्वापराधरोत्तरशब्दाः सुबन्ताः समस्यन्ते, स तत्पुरुष

इत्यर्थः अस्ति। ननु पूर्वश्चासौ कायश्चेति कर्मधारयेण एव पूर्वकाय इत्यादि सिद्धम्। भक्त्या कायशब्दस्य कायावयववाचित्वेन समानाधिकरण्योपपत्तेः इत्यत आह सिद्धान्तकौमुद्याम्–षष्ठीसमासापवाद इति। पूर्व कायस्येति विग्रहे 'षष्ठी' इति सूत्रेण समासे सति षष्ठ्यन्तस्य समासविधौ 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् इति सूत्रेण प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थमिदं वचनमिति अर्थः अस्ति।

पूर्वकायः इत्यस्मिन् उदाहरणे पूर्वं कायस्य इति विग्रहवाक्यम्। अर्धमिति गम्यं विशेष्याभिप्रायं नपुंसकत्वम्। 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति निर्देशादौ अवयववृत्तिदिक्शब्दयोगे पञ्चमी अभावात् षष्ठी। पूर्वशब्दस्य समासविधौ प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातः। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति पुंस्त्वम्। यत्र उत्सर्गापवादौ महाविभाषया विकल्प्येते तत्रापवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गे न प्रवर्तते इति। ततश्च एकदेशिसमासाभावे षष्ठी समासो न भवति।

एवं अपरकायः इत्यस्मिन् उदाहरणे 'अपरं कायस्य' इति विग्रहः अस्ति। अत्रापि 'षष्ठी' इति सूत्रेण समासः प्राप्तः किन्तु 'पूर्वपराधरोत्तरः' इति सूत्रेण तस्य सूत्रस्य बाधो भवति। यदि षष्ठी इति सूत्रेण समासो भवेत् तर्हि कायपूर्वम् कायअपरम् इति रूपे भवेताम्। यतो हि 'षष्ठी' इत्यस्मिन् सूत्रे षष्ठी इति प्रथमान्तं पदमस्ति। तेन प्रथमानिर्दिष्टं समास उपर्जनम् इति सूत्रेण पूर्वकायः इत्यादिषु षष्ठ्यन्तं पदं उपसर्जनं भवेत्। तन्न भवेत् एतदर्थ 'षष्ठी' इति सूत्रस्य अपवादरूपे 'पूर्वपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' इति सूत्रेण समासो भवति। अनेन सूत्रेण पूर्वं कायस्य अपरं कायस्य इत्यादि उदाहरणेषु 'पूर्वम्' 'अपरम्' एतयोः पदयोः उपसर्जनसंज्ञा भवति। ततः उपसर्जनं पूर्वम् इत्यनेन तयोः पूर्वप्रयोगोऽपि भवति।

अतः पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे इति सूत्रं 'षष्ठी' इति सूत्रस्य अपवादं भूत्वा समासं विदधाति।

नाथपंथ का उदय, प्रभाव और अलवर के प्रमुख नाथ संत

डॉ. डी.सी. चौबे
सह-आचार्य, इतिहास
राजकीय महाविद्यालय, उच्चैन (भरतपुर)

अलवर का अरावली क्षेत्र संतों की तपोभूमि रहा है। यहाँ पराशर और मांडव्य ऋषि के आश्रम रहे हैं। यहाँ के सरिस्का के घने जंगलों में पांडुपोल है जहाँ पर हनुमान जी और भीमसेन की भेंट हुई थी। अलवर की पश्चिमी सीमा पर विराट राज्य था जिसके यहाँ पांडवों ने अपने अज्ञातवास पूर्ण किये और बाद में विराट की राजकुमारी उत्तरा से वीर अभिमन्यु का विवाह हुआ था, जिससे परीक्षित का जन्म हुआ और पांडवों का वंश दीप जलता रहा।

राजस्थान की धरा पर एक से एक बढ़ कर नाथपंथ के पीठ हैं, पर इनमें सबसे बड़ा नाम भर्तृहरि का नाम है। इनकी बड़ी पीठ जोधपुर में भी है। पर यहाँ पर हम पूर्वी राजस्थान के नाथ पंथ की चर्चा करेंगे। भरतरी के बाद इस क्षेत्र में मस्तनाथ, तोतानाथ , खेतानाथ और चाँदनाथ जैसे नाथ महंथ हुए।

'नाथ' शब्द का प्रचलन हिन्दू, बौद्ध और जैन संतों के बीच विद्यमान है। 'नाथ' शब्द का अर्थ होता है स्वामी। वैष्णवों में स्वामी और शैवों में 'नाथ' शब्द का महत्व है। आपने अमरनाथ, केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि कई तीर्थस्थलों के नाम सुने होंगे। आदि का अर्थ प्रारंभ होता है। भगवान शंकर को 'भोलेनाथ' और 'आदिनाथ' भी कहा जाता है। आदिनाथ होने के कारण उनका एक नाम आदीश भी है।

इस आदिश शब्द से ही आदेश शब्द बना है। 'नाथ' साधु जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो कहते हैं- आदेश। भगवान शंकर की परंपरा को उनके शिष्यों बृहस्पति, विशालाक्ष (शिव), शुक्र, सहस्त्राक्ष, महेन्द्र, प्राचेतस मनु, भरद्वाज, अगस्त्य मुनि, गौरशिरस मुनि, नंदी, कार्तिकेय, भैरवनाथ आदि ने आगे बढ़ाया।

भगवान शंकर के बाद इस परंपरा में सबसे बड़ा नाम भगवान दत्तात्रेय का आता है। उन्होंने वैष्णव और शैव परंपरा में समन्वय स्थापित करने का कार्य किया। दत्तात्रेय को महाराष्ट्र में नाथपरंपरा का विकास करने का श्रेय दिया जाता है। दत्तात्रेय को आदिगुरु माना जाता है।

भगवान दत्तात्रेय के बाद सिद्ध संत गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने 'नाथ' परंपरा को फिर से संगठित करके पुनः उसकी धारा अबाध गति से प्रवाहित करने का कार्य किया। ये चौरासी नाथों की परंपरा में सबसे प्रमुख हैं। इन्हें बंगाल, नेपाल, असम, तिब्बत और बर्मा में खासकर पूजा जाता है।

गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के बाद उनके शिष्य गुरु गोरखनाथ ने शैवधर्म की सभी प्रचलित धारणाओं और धाराओं को एकजुट करके 'नाथ' परंपरा को एक नई ऊंचाई पर पहुंचाया। उनके लाखों शिष्यों में हजारों उनके जैसे ही सिद्ध होते थे।

राजस्थान के राजपरिवारों ने अपनी शैवधर्म में रुचि दिखायी। ऐसा मन्दिर निर्माण, भूमि दान आदि से प्रमाणित होता है। उदयपुर के महाराणाओं ने बप्पा द्वारा निर्मित एकलिंगजी के मन्दिर को भेंट एवं उपहार देकर अपनी शैव श्रद्धा प्रकट की। जोधपुर, कोटा, बाँसवाडा, अलवर, जयपुर, किशनगढ, बीकानेर आदि स्थानों में भी राजपरिवारों द्वारा शिवालय स्थापित करवाए गए।

जोधपुर में राव गांगा की रानी नानिक देवी ने अचलेश्वर मन्दिर बनवाया तथा अचल यश की भागिनी बनी।[1] राजस्थान में सिद्ध, नागा आदि के अनेक अखाडे स्थापित थे। ये सिद्ध कभी-कभी नंगे रहना, सम्पूर्ण अंग पर भस्म मलना, अग्नि तपना, शरीर को प्राकृतिक स्थिति में अनुकूल रख कर तपस्या करने आदि में विश्वास रखते थे।[2] राजपूताना के नाथ योगियों की संख्या अधिक थी।

जालोर के चौहान[3] तथा आबू के परमार[4] भी रावल शाखा के योगियों के भक्त थे। जैसलमेर, जोधपुर, अलवर व जयपुर के नरेशों के भी धर्मगुरु नाथ योगी थे। जयपुर के नाथावत, चम्पावत तथा मारवाड के कूँपावत भी नाथ भक्त थे। यहाँ तक कि उनके तम्बू, झंडे और घोडों की काठी के कपडों की खोली का रंग भी गेरुआ होता था।[5]

राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय का प्रवेश, उद्भव एवं विकास

राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय का प्रवेश आठवीं-नवीं शताब्दी में बप्पा रावल के समय मेवाड रियासत से माना जाता है। स्वयं बप्पा रावल नाथभक्त थे। मेवाड में इस सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो गया था। बीकानेर, अलवर, जयपुर रियासतों में भी तत्कालीन राजाओं ने नाथ सम्प्रदाय में अपनी आस्था प्रकट की और नाथपंथी साधुओं को अपने राज्य में आश्रय प्रदान किया तथा इनके चमत्कारों से प्रभावित होकर इनमें आस्था प्रकट की, जिसके परिणामस्वरूप राजस्थान में नाथसम्प्रदाय का प्रसार हुआ एवं अनेक नाथपीठें (मठ) स्थापित हुई।[6]

राजस्थान के पुरातात्विक स्त्रोतों से ज्ञात हुआ है, कि राजस्थान में नाथसम्प्रदाय का उद्भव नरवाहन के काल के एकलिंगेश्वर मन्दिर स्थित लेख 971 ई. से मिलता है। जैसलमेर के देवराज ने 12 वर्ष तक रावल रतननाथ की सेवा की थी।

एक दिन रतननाथ ने देवराज को प्रसन्न होकर कहा कि 'आवौ सिंध रावल राज' तब देवराज ने बाबा रतननाथ के पाँव छुए तब बाबा ने वचन दिया कि तुम्हारा वंश बढेगा और आप प्रतापी राजा होंगे तथा 121 वर्ष तक राज करेंगे। इतना कहकर दो वस्तुएं प्रदान करते हुए आशीर्वाद दिया और कहा कि गद्दी पर बैठते समय जोगी का वेष धारण करना उसके पश्चात् राजकार्य करना।[7]

विक्रम संवत् 909 को देवराज रावल कहलाए और राजा बने। देवराज का जन्म बैशाख सुद 14 संवत् 892 को हुआ। संवत 1030 को युद्ध में काम आए। राजस्थान के मेवाड़ में एकलिंग के मन्दिर में स्थापित लेख जो 971 ई. में लिखा गया है उसमें उल्लेख है कि इस मन्दिर का प्रतिष्ठा बप्पा ने करवायी थी। उदयपुर राजघराने के इष्टदेव एक लिंगेश्वर महादेव के समस्त पुजारी लकुलीश की शिष्य परम्परा से है।

बप्पा (चित्तौड़) के गुरु हारीत ऋषि इसी लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय के एक सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इसी प्रकार जालोर के सिरे मन्दिर में सं. 1825 में सुआनाथ के राताढूंढा (अजमेर) से वहां जाने के पश्चात् एक नवीन शिलापट्ट लिखा गया जिसमें विक्रम संवत् 931 (ईस्वी 875) में राताढूंढा आसन के स्थापित होने का उल्लेख मिलता है।[8]

इस प्रकार अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, जो 15वीं सदी के बाद के हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय के प्रवेश का प्रमाण नवीं शताब्दी अर्थात् विक्रम संवत् 909 (ईस्वी 853) जैसलमेर के देवराज का है।

राजस्थान में नवी सदी से नाथों के प्रवेश के पश्चात् 15वीं सदी तक नाथपंथियों का प्रभाव रहा है। यहाँ के शासकों ने इस पंथ को आश्रय प्रदान किया। पन्द्रहवीं सदी में राजपूतों की शाखा के साथ वैष्णव भक्ति का प्रवेश भी राजस्थान में हुआ था। मेड़ता में मीरा के गुरु भी नाथपंथी साधु थे। ऐसा आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य उद्भव एवं विकास' में मीरा के भजनों में गुरुचर्चा के आधार पर लिखा है।[9]

मत्स्यप्रदेश, ढूंडार ही नहीं वरन् मारवाड और मेवाड सहित न केवल राजस्थान वरन् भारत की सम्पूर्ण भूमि पौराणिक काल से ही नाथपंथी योगियों की तपःस्थली रही है और नाथपंथी योगियों के चमत्कारों तथा सिद्धियों की कथाओं से राजस्थान सहित भारत का इतिहास अटा पड़ा है।

चौदहवीं शताब्दी के महान् यात्री इब्नबतूता द्वारा लिखित अपने यात्रावृत्तान्त रहेला में तो मुहम्मद तुगलक के दरबार में शिष्य योगी द्वारा पद्मासन लगाकर धरातल के ऊपर उठने और गुरु योगी द्वारा अपनी खडाऊ से भूमि पर प्रहार कर उसे नीचे उतार देने के चमत्कार को देख कर स्वयं (इब्नबतूता) के मूर्छित हो जाने का वर्णन किया। इब्नबतूता ने अपने यात्रावृत्तान्त में योगियों द्वारा बाघ का रूप धारण कर विचरण करना भी वर्णित किया है।

इसी प्रकार सम्राट शम्सउद्दीन अल्तमश के पास जो बाद में सम्राट ग्यासउद्दीन बलबन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, को किसी योगी द्वारा ही आशीर्वादस्वरूप भारत का सम्राट होना इब्नबतूता ने लिखा है।[10]

नाथ सम्प्रदाय में मुख्य रूप से दो तरह के अनुयायी निवास करते हैं प्रथम जन्मजात नाथ, दूसरा - नाथ गुरु का शिष्य (चाहे वह किसी भी जाति-समाज से हो)। समस्त भारतवर्ष में नाथ-सम्प्रदाय की विकास परम्परा द्विविध ही है।

पहला है शिष्यपरम्परा तथा दूसरा पुत्रपरम्परा। योगी गुरु के शिष्य एवं पुत्र दोनों नाथ उपाधि से अलकृंत होते हैं। ऐसा नाथसम्प्रदाय के प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में वर्णित हैं-

नाथात् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता - नादरूपा बिन्दुरूपा च।

नाद रूपा च शिष्य बिन्दु रूपा च पुत्र क्रमेण।।[11]

प्रथमतः गुरु-शिष्य परम्परा नाद (वाणी) रूप में है। किन्तु राजस्थान के संत, सम्प्रदायों एवं लोकमानस पर उनका प्रभाव अत्यधिक रहा है। श्री गोरखनाथ जी की प्रेरणा-आशीर्वाद से उनके प्रमुख शिष्यों ने पंथों-उपपंथों का प्रवर्तन कर नाथसम्प्रदाय के विकास-विस्तार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इन प्रमुख पंथों में गौड (बंगाल) देश के श्री गोपीचन्द्र नाथ ने जोधपुर में माननाथी पंथ तथा उज्जैन के राजा योगी भर्तृहरि जी (सिद्ध विचार नाथ) ने राताढूँढा (पुष्कर) में वैराग्य पंथ की स्थापना कर राजस्थान और नाथसम्प्रदाय का गौरव बढ़ाया। ये गुरु गोरखनाथ द्वारा स्थापित 12 शाखाओं में वैराग्य पंथ एवं माननाथी पंथ के प्रथम प्रचारक थे।[12]

इनके अतिरिक्त आदिनाथ शिव द्वारा मारवाड के वन पंथ तथा स्वयं गोरखनाथ जी द्वारा जयपुर के पाव पंथ का उद्भव भी राजस्थान से ही माना जाता है। यहाँ (राजस्थान में ही) गुरु गोरखनाथ जी के नाथ-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि पर उनके कृपापात्र सिद्ध जसनाथ जी, जाँभोजी (जंभनाथ जी), हरिदास निरंजनी जी ने क्रमशः सिद्ध या जसनाथी सम्प्रदाय, विश्नोई सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

राजस्थान में नाथमत से प्रभावित साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालें, तो हमें यह साहित्य यहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी तो राजस्थान में रचित पुरा संत साहित्य नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित बताते हैं। साथ ही जसनाथी, निरंजनी और अलखिया सम्प्रदाय पर वे नाथयोग का विशेष प्रभाव भी मानते हैं।[13]

श्रीनाथ जी के भागीरथ ने उदैक आसन बनवाया जो, दासपंथी एवं गंगानाथी कहलाए। श्रीनाथ जी के लोतर पागल ने गहैलपुर छोवली का आसन बनवाया, जो रावल कहलाए।धर्मनाथ ने कोट कूलर का आसन बनवाया जो धर्मनाथी कहलाए।श्री सत्यनाथ ब्रह्माजी के रोईदास हुए, जिन्होंने धीनोघ्र का आसन बनवाया जो सत्यनाथ पंथी कहलाए। सबदनाथ के मननाथ हुए, जिन्होंने टांई माठमी का आसन बनवाया जो मननाथी कहलाए।

इस प्रकार 12 पंथों के नाम मिलते हैं, जिनके नामों से विभिन्न पंथों का चलन पड़ा। इस प्रकार देखने पर लगता है कि सम्पूर्ण राजस्थान में नाथसम्प्रदाय का बोलबाला था तथा विभिन्न मठ एवं पंथ स्थापित थे।[14]

मेवाड़ (उदयपुर संभाग):-

मेवाड़ में नाथयोगियों का उल्लेख आठवीं से सोलहवीं शताब्दी में पाया जाता है। मेवाड़ में नाथयोगियों की दो श्रेणियां विद्यमान थीं। एक मेवाड राजवंश के आराध्यदेव एकलिंगेश्वर के महन्त हारीत ऋषि की शिष्य परम्परा के नाथ योगी, जिन्हें समय-समय पर शासकों द्वारा आसन स्थापित करने हेतु भूमिदान दिया जाकर आश्रय प्रदान किया गया।

बप्पा रावल को हारीत के वरदान से ही मेवाड़ राज्य की प्राप्ति हुई थी। हारीत ऋषि की शिष्यपरम्परा के संदर्भ में नरवाहन के काल की एकलिंगेश्वर मंदिर स्थित 'नाथों के मंदिर की प्रशास्ति' (वि. 1028) उल्लेखनीय है।[15]

महाराजा जगतसिंह ने वि.स. 1687 में नाथ मठाधीशों के स्थान पर काशी के संन्यासी रामानन्द को बुलवा कर नियुक्त किया। तब से एकलिंगेश्वर मठाधीश गोस्वामी कहलाने लगे। स्थान पाशुपत सम्प्रदाय का था जिसके कारण गोस्वामियों की वेशभूषा नाथ महंतों की भांति प्रचलित रही। मेवाड के शासकों द्वारा आसनधारी नाथयोगियों को पुण्यार्थ भूमि प्रदान करने के सन्दर्भ दसवीं से सोलहवीं सदी पर्यन्त प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ सूची:-

1. हीराचन्द, डॉ. गौरीशंकर, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 11, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग।
2. दाधीच, डॉ. आर. पी., राजस्थान संत सम्प्रदाय, पृ. 3
3. शर्मा, डॉ. जी. एन., राजस्थान का इतिहास, पृ. 503
4. शर्मा, डॉ. जी. एन., राजस्थान का इतिहास, पृ. 503

5. द्विवेदी, डॉ. हजारीप्रसाद, ने सांचोर के शिलालेख जिसे अपनी पुस्तक नाथ सम्प्रदाय में पृष्ठ 156 से महाराजा मानसिंह एवं उनका काल पुस्तक पृष्ठ 140 पर - शर्मा डॉ. पद्मजा ने उल्लेख किया है।

6. द्विवेदी, डॉ. हजारीप्रसाद, नाथ सम्प्रदाय, पृ. 156

7. शर्मा, डॉ. पद्मजा, महाराजा मानसिंह एवं उनका काल पुस्तक पृष्ठ 140 पर

8. सांखला, डॉ. कमल किशोर, राजस्थान के नाथ सम्प्रदाय का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ संख्या 39, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, शोध केन्द्र जोधपुर, 2011

9. भाटी, डॉ. एस. एस., महाराजा मानसिंह दी मिस्टिक मोनार्क ऑफ मारवाड, पृ. 90 स्क्रीप्ट्स, डॉ. आर. पी. दाधीच

10. भाटी, डॉ. एन. एस., जैसलमेर की ख्यात, पृ. 38

11. जिज्ञासु, डॉ. मोहनलाल, चारण साहित्य का इतिहास, पृ. 49

12. सिह, राजदेव, संत साहित्य पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 281

13. डॉ. पेमाराम, राजस्थान में धर्म, सम्प्रदाय व आस्थाएँ, सम्पादकीय

14. योगवाणी, फरवरी 1984, पृ. 25

15. शर्मा, डॉ. बी. एल., राजस्थान का नाथ साहित्य, पृष्ठ संख्या 59 एवं डॉ. हुकुम सिंह, भारत में नाथां रा आसण, पृष्ठ संख्या 66

राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्

रचयिता
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्री
सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरी
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

(गताङ्कादग्रे) **स्वार्थे सत्येव कोऽपि,कमपि पृच्छति नान्यथेत्यनुभवोऽस्ति नः।**
ईदृक् - स्वार्थवृत्तिस्तु , न कुत्रापि गुरुदेव ! पठिता श्रुता वा ॥64॥

स्वार्थ होने पर ही कोई किसी को पूछता है, अन्यथा नहीं । यह हमारा अनुभव है । ऐसी स्वार्थ-वृत्ति तो कहीं भी हे गुरुदेव ! न पढ़ी गयी अथवा सुनी ही गयी है।

In my experience, people are asking about each other only because of selfishness. Oh, Gurudev! We have never heard or listened about such kind selfishness.

देवतानामवतार, - भूः सञ्जाताऽद्य हन्त ! अद्यासुराणाम् ।
नहि तान् निहन्तुं परं,कृष्णायते कोऽपि स्वयमिह जनो हा ! ॥65॥

हा ! दुःख हैं, देवताओं के अवतार की भूमि आज असुरों की बन गयी है । पर उनका वध करने के लिए कोई भी स्वयं यहाँ कृष्ण नहीं बनता है, दुःख है।

Yes! It's a pity that the land of gods and avatars became the land of demons. But nobody is becoming Krishna to fight them.

सर्वभूतेष्वात्मवत् , परद्रव्येषु लोष्टवत् स्वमातृवच्च ।
पर-स्त्रीषु भावना, यदि स्यात् तर्हि भवेत् ससुखं शान्तिः ॥66॥

सभी प्राणियों में स्वयं के समान पराये पदार्थों में मिट्टी के ढेले के समान और परायी स्त्रियों में अपनी माता के समान लोगों की भावना हो जाए तो सुख - सहित शान्ति हो जाए।

There will be peace and happiness if we treat all like we treat ourselves, other people's things like heaps of sand and other people women as our mothers. |66|

युवशक्तिरदमनीया, युवभ्यस्त्वाजीविकां दत्त्वा तेषाम् ।
शक्तिस्त्वुपयोज्या, राष्ट्राभ्युदयीय - कार्येष्वविलम्बा हि ॥67॥

युवक-युवतियों की शक्ति अदमनीय होती है । युवकों-युवतीयों को जीविका देकर उनकी शक्ति का यहाँ राष्ट्र के अभ्युदय के सम्बन्धित कार्यो में निश्चित रूप से अविलम्ब उपयोग करना चाहिए।

The energy of young men and women should be respected. By giving them direction, their energy should be used for the betterment of the nation, without any delay.

अन्यथा त्वसामाजिक, - तत्त्वैराकृष्टा युवानः प्रतुदन्ति ।
समग्रमपि राष्ट्रमिह , स्वकीयैर्विध्वंसकारि-गतिविधिभिर्हि ॥68॥

नहीं तो, असामाजिक तत्त्वों के द्वारा आकृष्ट की गयी युवक-युवतियाँ अपनी विध्वंसकारी गतिविधियों से सारे ही राष्ट्र को यहाँ उत्पीड़ित कर देती हैं।

Otherwise, young men and women will be attracted by the anti-social elements, and through the acts of vandalism destroy the whole nation.

जनता नेच्छति राष्ट्रे, राष्ट्रे कदापि युद्धं सुख-शान्ति-नाशि ।
केवलं तच्छासका , एव स्वार्थाय युद्धमुत्पादयन्ति ॥69॥

राष्ट्र में सुख शान्ति को नष्ट कर देने वाले युद्ध को जनता कभी नहीं चाहती। केवल उस राष्ट्र के शासक ही स्वार्थ के लिए युद्ध उत्पन्न करते हैं।

People do not want war, which destroys peace and happiness. Only selfish rulers start them. (or National leaders start the wars for selfish purposes.)

युद्धे सैनिका एव, निज-प्राणान् ददति स्वराष्ट्र - रक्षायै ।
स्वपदस्थाः शासकास्तु, निर्बाधं मोमुद्यन्ते निश्चिन्ताः ॥70॥

युद्ध से अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए सैनिक अपने प्राण देते हैं । अपने पद पर विराजमान शासनकर्ता तो बिना किसी बाधा के निश्चिन्त रूप से खूब मौज करते हैं।

In the war, soldiers give their lives to protect the country while rulers are enjoying without any disturbances.

(क्रमशः)